संग्रहवृत्तिके असंग्रहवृत्तिकी ओर

अगरचन्द्र नाहटा, बीकानेर

विश्वके समस्त प्राणियोंमें मानव एक विचारशील और विशिष्ट प्राणी है। मनकी विशेष शक्तिके द्वारा उसने नये आविष्कार किये, अनेक प्रकारके चिन्तन और कार्यों द्वारा विष और अमृत घोला। इसीलिये शास्त्रकारोंने मनुष्यको ही सबसे ऊँचे और नीचे पदोंका अधिकारी माना। फलतः वह सातवें नरक तक नीचे और ऊँचेसे ऊँचे मोक्ष तकको पा सकता है। मानसिक और शारीरिक शक्तिमें समय-समय पर बहुत अधिक उत्थान और पतन यानी क्रान्ति हुई और उस विकास परम्पराका इतिहास बहुत ही रोचक एवं ज्ञानवर्धक है।

अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा संग्रह और असंग्रह वृत्ति भी मनुष्योंमें ही अधिकसे अधिक परिमाणमें पाई जाती है। संग्रहके साधन और संरक्षणमें उपाय भी सबसे ज्यादा उसीको प्राप्त एवं ज्ञात हैं और उसीने संग्रहवृत्तिके लाभालाभका सबसे अधिक चिन्तन व अनुभव करके असंग्रह वृत्ति या त्यागकी ओर सबसे अधिक प्रगति की है। प्रस्तुत लेखमें मानवकी इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंके विकासका संक्षिप्त इतिहास जैन दृष्टि-कोणसे उपस्थित किया जा रहा है, क्योंकि जैनधर्ममें अपरिग्रहको सबसे अधिक महत्त्वका स्थान मिला है। जैन तीर्थंकरों आदिने त्यागकी उच्चतमभूमिकाका स्पर्श किया और प्रत्येक जैनीके लिये परिग्रहका परिमाण तथा इच्छा व मुर्च्छाका संकोच आवश्यक माना गया है। हिंसा आदिकी तरह ही परिग्रहको पाप और अपरिग्रहको धर्म माना गया।

कोई भी प्राणी जन्म लेते समय शरीरके अतिरिक्त कोई भी वस्तु साथ लेकर नहीं आता। अतः स्वभावतः वह अपरिग्रही-सा है क्योंकि जाते समय भी संग्रहकी हुई कोई भी वस्तु साथ नहीं ले जाई जा सकती। संग्रहवृत्ति सप्रयोजन है। ज्यों-ज्यों मनुष्यकी आवश्यकतायें और इच्छायें बढ़ती हैं, वह अधिका-धिक संग्रहकी ओर प्रवृत्त होता है। और जब संग्रहीत या असंग्रहीत पदार्थोंकी मुर्छा या ममत्वका त्याग कर देता है, तब वह अपरिग्रही, निवृत्त या त्यागी कहलाता है। जैनधर्म निवृत्ति या त्याग प्रधान है। भोगोंसे हटकर त्यागकी ओर बढ़ना ही जैनधर्मका सन्देश है क्योंकि भोग व संग्रहवृत्ति चंचलता, विषमता, बन्ध और अशान्तिके कारण है और समत्वका अधिकाधिक विकास जैनधर्मकी साधनाका मुख्य ध्येय है।

जैनग्रन्थोंके अनुसार, विश्वके उत्थान और पतनकी प्रधानताको लक्ष्यमें रखते हुए इन युगोंको अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामोंसे विभाजित किया गया है। उत्सर्पिणी कालमें क्रमशः उत्थान और अव-सर्पिणीमें क्रमशः अवनति होती जाती है। प्रत्येक कालके ६-६ चक्र याने आरे होते हैं। वर्तमानमें अव-सर्पिणी याने अवनति काल चल रहा है। प्राणियोंका देह मान, आयु शक्ति आदिमें क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। प्रथम तीन आरोंके समय क्रमशः ह्रासमान होते हुए भी उनमें जीवन एक साँचेमें ढला हुआ था। वह युगलिक काल था अर्थात् स्त्री और पुरुष युग्मके रूपमें साथ ही जन्म लेते, वयस्क होने पर उनमें स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध होता और फिर युगलिकको जन्म देकर ही वे मर जाते। ऐसा कहा गया है कि उस समय शरीर व आयुका परिमाण बहुत अधिक था पर उनकी इच्छाएँ, आवश्यकताएँ, आहार आदि बहुत ही कम थे। कल्पवृक्षोंसे ही उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो जाती थी। खानेको फल और पहननेको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कपड़े, आभूषण इत्यादिकी पूर्ति दस प्रकारके वृक्षोंसे ही हो जाती थी, उन्हें संग्रह करने और संरक्षण करनेकी कोई आवश्यकता व चिन्ता न थी। जब, जो, जितनी आवश्यकता हुई, उन वृक्षों द्वारा उनकी पूर्त्ति हो जाती। इस तरहका एक साँचेमें ढला हुआ-सा जीवन व्यतीत होनेसे उसे भोग-भूमिका काल कहा गया है। असि, मसि, कृषि आदि कर्मोंकी उत्पत्ति होने पर उत्तरवर्ती समयको कर्मभूमि काल कहा गया है।

ज्यों-ज्यों उन वृक्षोंकी फलदायी शक्ति कम हुई और युगलिकोंकी क्षुधा आदि आवश्यकतायें बढ़ीं, तो ईर्ष्या, कलह, द्वेष आदि बढ़नेके साथ चोरी और संग्रहवृत्ति भी बढ़ी। परम्परासे प्राप्त अपने वृक्षोंके फलोंसे जब उनकी इच्छाओंकी पूर्ति न होती (क्योंकि पहलेकी अपेक्षा वे फल काल कम देने लगे थे), तो दूसरोंके हिस्सेके वृक्षोंसे भी लाभ उठानेकी वृत्ति जागी। सब समय एक समान उत्पादन नहीं होनेसे संग्रहकी आवश्यकता भी हो आई क्योंकि जिस समयमें आवश्यकताके अनुरूप सामग्री न मिले, उस समयके लिए कुछ कठिनाई व असुविधा प्रतीत होने लगी। इससे सभी प्रकारकी अनैतिकता व अपराध भी बढ़े।

क्रमशः तीसरे आरेके अन्तमें ऐसी विषम और क्रान्तिकारी परिस्थितिमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवका जन्म हुआ। इन्होंने अपने युगमें एक अपूर्व क्रान्ति की, क्योंकि वह संक्रान्ति काल था। इधर मनुष्योंकी सन्तानोंकी अधिकता होनी प्रारम्भ हुई, तो उत्पादनके साधन भी बढ़ाने आवश्यक हो गये। "आवश्यकता ही अविष्कारकी जननी है"के सिद्धान्तानुसार भगवान ऋषभदेवने कृषि, असि, मसि आदि समस्त कर्म, कला-कौशल स्त्री-पुरुषोंको सिखाये। उन्होंने पुरुषोंको बहत्तर और स्त्रियोंकी चौसठ कलाओंको पाठ पढ़ाया। उत्पादन और जनसंख्या-दोनोंकी अभिवृद्धि हुई। अपनी-अपनी शक्ति और बुद्धिके अनुपातसे उत्पादन आदिकी कमी-बेशी होनेसे लोगोंकी आर्थिक स्थितिमें विषमता आई। किसीने अपनी मानसिक व शारीरिक शक्तियोंका उपयोग कर आवश्यकताओंसे अधिक उत्पादनकर बहुत बड़ा संग्रह कर लिया, तो कोई व्यक्तिइस क्षेत्रमें पिछड़ गये। इस तरह संग्रहवृत्तिका सूत्रपात होकर क्रमशः आवश्यकतायें बढ़ीं और उनसे भी बहुत अधिक इच्छायें बढ़ीं। आवश्यकताओंकी पूर्ति तो फिर भी हो सकती हैं क्योंकि जीवन सीमित है और शक्तियोंका विकास अपरिमित है। पर इच्छायें तो आकाशके समान अनन्त हैं। अतः उनकी पूर्ति होना असंभव है। एक इच्छाकी पूर्ति हुई तो दूसरी अनेक प्रकारकी इच्छायें जाग उठेंगी। अब संग्रह केवल अपने लिये ही नहीं, परिवार बढ़नेसे सारे परिवारके लिये भी बढ़ाना आवश्यक हो गया। फिर सभी व्यक्ति एक समान उत्पादन कर नहीं सकते, इसलिये जो उत्पादन करनेमें समर्थ हैं, उन्हें उनके लिए भी चिन्ता होनी स्वाभाविक है। फिर जब सन्तानके प्रति ममत्व या मोह बढ़ता गया, तो उन्हें व उनकी संततिके लिये-इस तरह कई पीढ़ियोंके लिये संग्रह करनेकी प्रवृत्तिने जोर पकड़ा। मनीषी व्यक्तियोंने संग्रहीत धन या पदार्थोंकी तीन गतियाँ बतलायी हैं—दान, भोग और विनाश। भोगके लिये आय सीमित है और अधिक भोग रोग आदि दोषोंका कारण है, इसलिये दान धर्मको खूब महत्व दिया गया है, क्योंकि भोग और दानके रूपमें उपयोग न हुआ तो संग्रहका तीसरा मार्ग विनाश ही होगा, चाहे वह किसी भी तरहसे हो। स्वेच्छासे नहीं, तो अनिच्छासे भी संग्रहीत वस्तुओंको किसी भी तरह छोड़ना होगा ही। अतः उनका दान करके ही सदुपयोग क्यों न किया जाय?

ऋषभदेवके पहले जो युगलिक जीवन था, उसमें न अतिभोग था, न योग था, न उग्र पाप था, न धर्ममय जीवन था। अनैतिकता व पाप न होकर एक साँचेमें ढला हुआ-सा जीवन था। मनकी कुलषित वृत्तियाँ न थीं। इसलिये उनके लिए देवगतिका ही विधान मिलता है। इधर जब पाप प्रवृत्तियाँ पनपीं, तो धर्मकी आवश्यकता हो उठी, इसलिये नरक और मोक्षके द्वार खुल गये। कर्ममय जीवनके साथ धर्ममय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवनका सम्बन्ध लगा हुआ है। उसी विकसित शक्तिकी दिशा मोड़कर उसे सत्कर्ममें लगा दिया जाय, तो जीवनोत्थान अवश्यम्भावी है। इसीलिये कहा गया है—'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा'। जो अधिकसे अधिक संग्रह कर सकता है, वह अधिकसे अधिक त्याग भी कर सकता है, वृत्ति या शक्तिको दिशा भर बदलनेकी बात है।

विश्वमें जो भी संघर्ष है, अनीति या अधर्म है, उसका प्रधान कारण संग्रह या ममत्व है। किसी वस्तुपर मैंने अपनापन आरोपित कर दिया, तो उसे मैं दूसरोंको न लेने दूँगा, न दूँगा ही। उसके लिए युद्ध, द्वेष, कलह-सभी कुछ किये जाते हैं। जो वस्तु मेरी नहीं है, पर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा हो गई, तो उसके प्रति मेरा ममत्व जगा और फिर जिस किसी भी प्रकारसे, दूसरेका विनाश करके भी, उसकी प्राप्तिका प्रयत्न मेरे द्वारा किया जायगा। सभी युद्ध द्वेष, अशान्ति और अनैतिकता इसी परिग्रहपर आधारित हैं। शान्ति प्राप्तिका उपाय सीमित ममत्वका परित्याग है। जीवनोपयोगी किसी भी वस्तुपर व्यक्ति विशेष या देश विशेषका अधिकार न होकर यदि वह सबके लिए सुलभ हो जाय, व्यक्ति संयम, त्यागकी ओर बढ़ते हुए दूसरोंके लिए उन वस्तुओंको मुक्त कर दे, उनसे अपनापन हटा ले, तो अशान्ति स्वयं हट जावेगी।

ममत्वको दूर करनेके दो तरीके हैं—ममत्वका परिहार और ममत्वका विस्तार। समत्वकी ओर बढ़नेके लिए ममत्वका परिहार तो करना ही होगा, पर यदि हम सीमित ममत्वको हटाकर उसका विस्तार करते हुये समस्त प्राणियोंको अपना परिवार ही मान लें, तो उसका परिणाम भी समत्वमें ही परिणत होगा। कोई वस्तु हमारी नहीं, सारे समाज, राष्ट्र व देशकी है और हम सब उसीके अंग हैं। या जो भी व्यक्ति हैं, वे अपने ही हैं, ऐसा मान लेनेसे अलगाव, विषमताका भाव हटकर अशान्तिके कारण नष्ट हो जायेंगे। "त्याग करते हुए भोग करो" इस उपनिषद् वाक्यका सन्देश भी यही है कि त्यागका लक्ष्य भुलाया न जाय, भोगोंमें आसक्ति बढ़ाई न जाय, वस्तुओं व धनके हम ट्रस्टी बनकर रहें—गान्धीजीका यही सन्देश था।

जैनधर्ममें मुनि जीवनके लिए असंग्रही जीवन बितानेके कठोर नियम हैं। कलके भोजनका भी मुनि आज संग्रह करके नहीं रख सकता। उसके लिए रुपये-पैसेका तो स्पर्श भी निषिद्ध है। उच्च जीवनमें तो दिगम्बरत्व ही अपनाया जाता है। शरीरके सिवा मयूर-पिच्छी कमण्डलुके समान धर्मोपकरणोंके अतिरिक्त और कोई चीज उसके पास नहीं रहती। वह भिक्षावृत्तिसे आहार ग्रहण करता है, वह भी हाथमें ही। कोई पात्र भी नहीं रखा जाता। दूसरे प्रकारके स्थविरकल्पी साधुओंके आचारमें वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरणोंकी कुछ छूट रहती है। गृहस्थके लिए सर्व संग या संग्रहका परित्याग सम्भव नहीं, पर उसके लिए भी परिग्रहका परिमाण करना पाँचवाँ अणुव्रत है। वह अपनी इच्छाओंको सीमित कर ले उन्हें आवश्यकताओंसे अधिक बढ़ने न दे। उनको और भी सीमित करनेके लिये अणुव्रतोंके साथ गुणव्रत और शिक्षाव्रत जोड़े गये हैं, जिनमें सुबहसे शाम और शामसे सुबह तकके भोगोपभोगका परिमाण चौदह नियमोंके द्वारा किया जाता है।

जैन मुनियोंने वस्तुओंपर जो व्यक्तिका ममत्व है उस ममत्वको हटानेका बहुत अधिक प्रयत्न किया है। उन्होंने देखा कि एक-एक इंच भूमिके लिए एक ही माताकी कोखसे जन्मे हुए भाई-भाई भी परस्परमें लड़ते हैं। राजा आदि अधिपति तो उसे अपनी ही बपौती मानते हुए बड़े-बड़े युद्ध तक करते हैं, जिनमें लाखों व्यक्तियोंके प्राणोंकी और लाखों करोड़ोंका धन व वस्तुओंका विनाश होता है और जल्दी राजगद्दी प्राप्त करनेके लिए पुत्र पिताको मार डालता है। इस तरहकी विध्वंसलीलाको देखकर उनका हृदय सिहर उठा और उन भूमिपतियोंको सम्बोधित करते हुए उन्होंने जो मंगलमय वाणी प्रसारित की, उसके दो नमूने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ दिये जा रहे हैं। अठारहवीं शताब्दीके कविवर धर्मसिहने बहुत ही सुन्दर दृष्टान्तों द्वारा 'धरतीकी धणियाप' याने मालकीपन कैसा, इसको सुन्दर ढंगमें प्रचारित किया है :

धरतीकी धणियाप किसी ? भोगती किते भू किता, भोगवसी, मांहरी मांहरी करइ मरे।
एही तजि पातलां उपरि, कूकर मिलि केई ध्रूवै ॥१॥
धप ही धरणी केतुइ धुसि धरि, अपणाइत केई ध्रूवै।
धोवी तणी शिला परि धोवी हूंपति, हूं-पति करै हुवै ॥२॥
इण हल किया किता पति आगै, परतिख किता किता पर पूठ।
वसुधा प्रगट दीसती वेश्या झूझे भूप भुजंगसू झूठ ॥३॥
पातल सिला वेश्या पृथ्वी, इण च्यारां री रीति इसी।
ममता करै मरै सो मूरख कह, चर्मसी धणियाप किसी ॥४॥

एक दूसरे राजस्थानी कविने भी कहा है कि जिस भूमिके लिए तुम इस धन-जनका बेहद संहार करनेपर तुले हुए हो सोचो तो सही कि इस भूमिको कौन साथ लेकर गया है ? बड़े-बड़े राजाओंने इसे अपनामानकर महाभारत जैसे युद्ध किए, पर अन्तमें उन्हें भी जाना पड़ा, पर भूमि तो यहीं की यहीं पड़ी रही, कोई भी साथ न ले जा सका :

कहो भोम कुण ले गया ?
एण भोम उपरे राम रावण हिण अडीया,
एण भोम उपरे बहु चक्र वै रण पडिया।
एण भोम उपरे गये वाणंवली बारह,
एण भोम उपरे खपे खोहण अठारेह।
सौला सोवत सौ सूरिमा, दरजोधन संग्रहि दिया।
एतला राजा होई गया, कहो भोम कुण ले गया ॥१॥

इसी तरह समस्त पौद्गलिक पदार्थोंको, यथावत शरीर तककी ममताको हटानेके लिए, उन्होंने उनकी विनश्वरता व उनके संग्रह व ममत्व द्वारा होनेवाली खराबियोंके विरुद्ध खूब साहित्य लिखा व प्रचार किया और असंग्रह वृत्तिकी ओर बढ़नेके लिए प्रेरणा-दायक संदेश दिया। जरूरत उसके आचरणकी ही हैं। विश्वकी अशान्तिका मूल कारण यह संग्रहवृत्ति ही है। इसीके कारण हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि सारे दुर्गुण, वैर-विरोध एवं युद्ध पनपते हैं। इसीलिए असंग्रहवृत्तिकी ओर बढ़ना ही परम शान्तिका मार्ग है। संग्रह, परिग्रह व भोग ही भवभ्रमण हेतु हैं और असंग्रह, असंग, अपरिग्रह व आसक्ति त्याग ही शान्ति एवं कल्याणदायक हैं। सुधीजन इसपर स्वयं सोचें, समझें और श्रेयकी ओर बढ़ें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org